

Second Paper UPSC Model Answer 2025

खण्ड- A / SECTION-A

Q.1.

(a) सिख राजतंत्र, विशेषकर महाराजा रणजीत सिंह के नेतृत्व में, भारत के इतिहास में एक अद्वितीय शक्ति के रूप में उभरा। इसका उदय अत्यंत आकस्मिक था — 18वीं शताब्दी के अंत में जब मुगल सत्ता पतनशील थी और अंग्रेज़ी शक्ति उत्तर भारत में बढ़ रही थी, उसी समय रणजीत सिंह ने पंजाब में एक सशक्त साम्राज्य स्थापित किया।

अर्थ और व्याख्या:

1. "अपने उदय की आकस्मिकता" — इसका अर्थ है कि सिख राज्य (विशेषतः महाराजा रणजीत सिंह का शासन) का उदय अचानक या अप्रत्याशित रूप से हुआ। जिस प्रकार नेपोलियन बोनापार्ट ने एक सामान्य सैनिक से फ्रांस का सम्राट बनकर अचानक उन्नति की, उसी प्रकार सिखों ने भी पंजाब में अप्रत्याशित रूप से एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना कर ली।
2. "अपनी सफलताओं की चमक" — इसका संकेत सिख साम्राज्य की असाधारण उपलब्धियों की ओर है। रणजीत सिंह के शासन में पंजाब समृद्ध, शक्तिशाली और संगठित हुआ, सेना आधुनिक बनी, और कला-संस्कृति फली-फूली। यह उसी प्रकार चमकदार सफलता थी जैसी नेपोलियन की विजयों में देखी गई।
3. "अपने पराभव की पूर्णता" — यहाँ "पराभव की पूर्णता" से आशय है — जब पतन हुआ, तो वह पूर्ण और निर्णायक था। नेपोलियन का साम्राज्य जैसे एकदम से ढह गया था, वैसे ही रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद सिख साम्राज्य भी शीघ्र ही अंग्रेज़ों के अधीन हो गया।

इसका उत्कर्ष सफलताओं की चमक से भरा था। रणजीत सिंह ने एक संगठित प्रशासन, आधुनिक सेना और धार्मिक सहिष्णुता पर आधारित शासन चलाया, जिससे सिख साम्राज्य उत्तर-पश्चिम भारत की सबसे प्रभावशाली शक्ति बन गया।

किन्तु, उसका पराभव भी नेपोलियन की भाँति पूर्ण और तीव्र था। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार संघर्ष, दरबारी षड्यंत्र और अंग्रेज़ी कूटनीति ने इस साम्राज्य को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। इस प्रकार, सिख राजतंत्र का उत्थान, वैभव और पतन — तीनों ही नेपोलियन साम्राज्य की भाँति नाटकीय और ऐतिहासिक रूप से उल्लेखनीय थे।

(b) पेशवाओं के काल में मराठा साम्राज्य ने एक ओर राजनीतिक व सैन्य उत्कर्ष प्राप्त किया, पर दूसरी ओर आंतरिक फूट और स्वार्थ ने उसकी नींव कमजोर कर दी। शिवाजी द्वारा स्थापित साम्राज्य राष्ट्रीय और संगठित था, पर पेशवाओं के अधीन यह विभिन्न सरदारियों — जैसे शिंदे, होलकर, भोसले और गायकवाड़ — में विभक्त होकर सामंतवादी स्वरूप लेने लगा।

घरेलू मतभेदों के प्रमुख कारण

1. सत्ता-संघर्ष:

पेशवाओं और मराठा सरदारों के बीच सर्वोच्चता को लेकर निरंतर प्रतिस्पर्धा रही।

2. **व्यक्तिगत ईर्ष्या और स्वार्थ:** मराठा सरदारों में पारस्परिक विश्वास का अभाव था। प्रत्येक अपने स्वार्थ और क्षेत्रीय हित को प्राथमिकता देता था।

3. **केंद्रीय सत्ता की कमजोरी:** बालाजी बाजीराव और माधवराव के बाद पेशवाओं की शक्ति कमजोर पड़ी। इससे साम्राज्य की एकता समाप्त हो गई।

4. **नागरिक नीति में एकरूपता का अभाव:** विदेशी नीति या अंग्रेजों के प्रति व्यवहार में कोई समान दृष्टिकोण नहीं था — किसी ने सहयोग किया, किसी ने विरोध।

5. **उत्तराधिकार विवाद और परिवारवाद:** पेशवा परिवार तथा अन्य मराठा सरदारों के बीच उत्तराधिकार और प्रभुत्व को लेकर कलह रही।

सत्ता-संघर्ष, व्यक्तिगत ईर्ष्या, क्षेत्रीय स्वार्थ और केंद्रीय सत्ता की दुर्बलता ने मराठा एकता को खंडित किया। विदेशी नीति में भी एकरूपता का अभाव था; कुछ सरदार अंग्रेजों के साथ तो कुछ उनके विरोध में थे। बालाजी बाजीराव और माधवराव के बाद पेशवाओं की कमजोर नेतृत्व-शक्ति ने इन मतभेदों को और गहरा किया।

इन आंतरिक विभाजनों का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने “फूट डालो और राज करो” की नीति से लाभ उठाया, और 1818 के तीसरे आंग्ल-मराठा युद्ध के पश्चात मराठा सत्ता समाप्त हो गई।

(c) भगत सिंह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के उन क्रांतिकारियों में थे जिन्होंने **क्रांति की परिभाषा को केवल शासन परिवर्तन तक सीमित नहीं रखा**, बल्कि उसे समाज के समग्र रूपांतरण का माध्यम बनाया। उन्होंने और उनके साथियों—जैसे राजगुरु, सुखदेव, चंद्रशेखर आज़ाद—ने क्रांति को ‘**मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के अंत**’ के रूप में देखा। उनके विचारों में समाजवाद, समानता, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सिद्धांत निहित थे।

भगत सिंह ने लेखन, संगठनों (जैसे **हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन**) और विचारों के माध्यम से जनता को जागरूक किया। उनकी क्रांतिकारी गतिविधियाँ — जैसे असेंबली में बम फेंकना — प्रतीकात्मक थीं, जिनका उद्देश्य हिंसा नहीं बल्कि **जनचेतना और वैचारिक जागृति** था।

उन्होंने स्वतंत्रता को केवल विदेशी शासन से मुक्ति नहीं, बल्कि **सामाजिक, आर्थिक और मानसिक गुलामी से मुक्ति** के रूप में परिभाषित किया।

इस प्रकार, भगत सिंह ने भारतीय क्रांति को एक **राजनीतिक आंदोलन से आगे बढ़ाकर सामाजिक-वैचारिक परिवर्तन** का स्वरूप प्रदान किया।

(d)

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892 ब्रिटिश शासन द्वारा पारित वह अधिनियम था जिसने भारत में प्रतिनिधित्व के सिद्धांत की औपचारिक शुरुआत की। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें पहली बार **चुनाव के सिद्धांत** को सीमित रूप में लागू किया गया, यद्यपि 'election' शब्द का प्रयोग औपचारिक रूप से नहीं किया गया।

इस अधिनियम के तहत, प्रांतीय और केंद्रीय विधान परिषदों में कुछ सदस्यों को **स्थानीय निकायों, विश्वविद्यालयों, वाणिज्य मंडलों और भूमि-धारकों की संस्थाओं द्वारा नामित** किया जाने लगा। यह वास्तव में **अप्रत्यक्ष चुनाव** की प्रक्रिया थी।

अधिनियम ने परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ाई और उन्हें **बजट पर प्रश्न पूछने और सुझाव देने का अधिकार** दिया, परंतु उन्हें **मतदान का अधिकार** नहीं था।

यद्यपि सुधार सीमित थे, पर इस अधिनियम ने भारतीय राजनीति में **प्रतिनिधिक शासन की अवधारणा** को जन्म दिया और आगे चलकर **1909 के मॉर्ले-मिंटो सुधारों** की नींव रखी।

(e) भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का प्रमुख उद्देश्य था — **भारत को कच्चे माल का स्रोत और अंग्रेजी उत्पादों का बाज़ार** बनाना। इसी नीति के अंतर्गत भारतीय बाजारों को इंग्लैंड निर्मित वस्तुओं के लिए पूरी तरह खोल दिया गया। यह प्रक्रिया भारत के पारंपरिक हस्तशिल्प उद्योगों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई, जिसे इतिहासकार '**विउद्योगीकरण (De-industrialization)**' कहते हैं।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक भारत वस्त्र, धातु, मिट्टी और हाथकरघा उद्योगों का प्रमुख केंद्र था। परंतु, औद्योगिक क्रांति के बाद इंग्लैंड में मशीन आधारित उत्पादन आरंभ हुआ, जिससे वहाँ सस्ती वस्तुएँ बनने लगीं। ब्रिटिश सरकार ने भारत में **आयात शुल्क समाप्त कर दिए**, जबकि भारतीय वस्त्रों के निर्यात पर **भारी कर** लगाए गए। परिणामस्वरूप भारतीय वस्त्र यूरोपीय बाजारों से बाहर हो गए और **लाखों बुनकर बेरोजगार** हो गए।

साथ ही, ब्रिटिश नीति ने भारत को केवल **कपास, नील, जूट आदि कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता** और ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं के **उपभोक्ता** में परिवर्तित कर दिया। इससे भारत की **आर्थिक आत्मनिर्भरता नष्ट** हो गई और वह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की परिधि में बंध गया।

अतः, औपनिवेशिक शासन की नीतियों ने भारत के स्वदेशी उद्योगों का पतन कर दिया और देश को आर्थिक दासता तथा गरीबी की गहराइयों में धकेल दिया।

Q.2.

(a) हाँ, यह कथन काफी हद तक सत्य है कि **1793 के स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement)** की अवधारणा पर **प्रकृतिवादी (Physiocratic)** सिद्धांत का गहरा प्रभाव था।

प्रकृतिवादी विचारधारा, जो 18वीं शताब्दी के फ्रांस में विकसित हुई, यह मानती थी कि **भूमि ही समस्त संपत्ति और उत्पादन का मूल स्रोत है** तथा सरकार को भूमि-स्वामियों से निश्चित कर वसूल करना चाहिए ताकि वे शेष लाभ के लिए उत्पादन बढ़ाने हेतु प्रोत्साहित हों।

इसी विचार से प्रभावित होकर लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल में 1793 में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इसके तहत ज़मींदारों को भूमि का **स्थायी स्वामित्व** प्रदान किया गया और राज्य द्वारा वसूले जाने वाले **भू-राजस्व को स्थायी रूप से निश्चित** कर दिया गया। उद्देश्य था — स्थायित्व लाकर कृषि उत्पादन बढ़ाना तथा एक **निष्ठावान भू-स्वामी वर्ग** का निर्माण करना।

हालाँकि, इस नीति के दुष्परिणाम गहरे थे। ज़मींदारों ने कृषकों का शोषण किया, कृषि निवेश और सुधार की उपेक्षा की, और किसानों की स्थिति बदतर हो गई।

इस प्रकार, यद्यपि स्थायी बंदोबस्त की प्रेरणा प्रकृतिवादी सिद्धांतों से मिली, परंतु भारतीय सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में यह प्रयोग **विफल सिद्ध** हुआ और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पतन का कारण बना।

(b) औपनिवेशिक भारत में प्रेस एक ओर **सत्ता के नियंत्रण** के अधीन था, वहीं दूसरी ओर इसे **स्वतंत्रता और जन जागरूकता के साधन** के रूप में उभरते देखा गया। ब्रिटिश शासकों ने प्रारंभ में प्रेस को सीमित रूप से अनुमति दी, पर जैसे-जैसे यह राजनीतिक चेतना का माध्यम बनी, नियंत्रण और दमन की नीतियाँ तेज हुईं।

ब्रिटिश प्रशासन के लिए प्रेस एक **दोहरी चुनौती** थी। स्वतंत्र प्रेस से जनता में **सत्ता-विरोधी विचार और विरोध प्रदर्शन** फैल सकते थे। इसलिए **रेगुलेटरी कानूनों** जैसे प्रेस अधिनियम 1857, 1867 और बाद में 1910 लागू किए गए, जिनमें सामग्री पर निगरानी और सजा का प्रावधान था।

वहीं, शासकों को यह भी समझ था कि **पूरी तरह दमन से विरोध और नाराजगी बढ़ेगी**। इसलिए कुछ मामलों में उन्हें प्रेस की सीमित स्वतंत्रता भी दी गई, विशेष रूप से गैर-राजनीतिक और सामाजिक विषयों में।

इस प्रकार औपनिवेशिक रवैये में **स्वतंत्रता और नियंत्रण के बीच संतुलन बनाने की खींचतान** स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यह संतुलन अक्सर प्रशासनिक स्वार्थ और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा, जिससे प्रेस का स्वरूप—स्वतंत्रता और दमन के मिश्रित रूप में—उभरकर आया।

(c) 1950 के दशक के उत्तरार्ध और 1960 के दशक में भारत में **भाषाई राज्यों की मांगें** तीव्र हुईं। हिंदी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाई समूहों ने अपनी प्रशासनिक और राजनीतिक पहचान सुनिश्चित करने के लिए आंदोलन चलाए। यह आंदोलन सामाजिक न्याय, प्रशासनिक दक्षता और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा का माध्यम था।

हालाँकि, **राष्ट्रवादी अभिजातवर्ग** इस आंदोलन से चिंतित था। उनका डर यह था कि यदि राज्यों का गठन केवल भाषा के आधार पर हुआ, तो इससे **राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ सकती है**, और भारत छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजित होकर 'बाल्कनीकरण' जैसा संकट झेल सकता है। उन्हें लगता था कि यह **सांस्कृतिक और राजनीतिक खंडितता** को बढ़ावा देगा और केंद्र-राज्य संबंधों को अस्थिर करेगा।

परंतु, वास्तविकता यह थी कि भाषाई राज्यों का निर्माण **1956 के पुनर्गठन अधिनियम** के तहत हुआ और इसके परिणामस्वरूप **केंद्रीय और राज्य सरकारों के बीच संतुलन स्थापित हुआ**, साथ ही लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को मज़बूती मिली। यह सिद्ध करता है कि भाषाई आधार पर राज्यों का गठन **विभाजन का कारण नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संवेदनशीलता और सांस्कृतिक समावेशिता का उदाहरण था**।

इस प्रकार, राष्ट्रवादी अभिजातवर्ग की आशंकाएँ ऐतिहासिक रूप से समझी जा सकती हैं, पर व्यवहारिक परिणामों ने उनकी चिंताओं को पूरी तरह पुष्ट नहीं किया।

Q.3.

(a) कर्नाटक युद्ध (1746–1761) फ्रांस और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच भारत में राजनीतिक व सामरिक प्रभुत्व के लिए लड़ा गया। इस युद्धों के दौरान फ्रांसीसी, विशेषकर मराठा, नाइजाम और अन्य भारतीय राज्यों के साथ गठजोड़ कर, भारत में अपनी **राजनीतिक स्थिति और सैन्य प्रभाव** स्थापित करने में सफल रहे। उनके सैन्य अभियानों और कूटनीति ने एक समय पर भारतियों और यूरोपीय पर्यवेक्षकों को प्रभावित किया।

हालाँकि, लंबे समय तक फ्रांसीसी रणनीति और संसाधनों की सीमाएँ उनके लिए चुनौती बन गईं। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने **स्थिर प्रशासन, वित्तीय शक्ति और बेहतर सैनिक प्रबंधन** के माध्यम से धीरे-धीरे फ्रांसीसी प्रभुत्व को चुनौती दी। इसके अलावा, फ्रांसीसी का भारतीय राजनीतिक संदर्भों और स्थानीय शक्ति समीकरण को समझने में विफल होना उनके पतन का कारण बना।

परिणामस्वरूप, 1761 के **प्लासी और उसके पूर्व संघर्षों** ने फ्रांसीसी स्थिति को कमजोर कर दिया और उनका प्रभाव सीमित कर दिया। जो एक समय भारत में अपनी सफलताओं से चकित कर देने वाला था, वह अंततः **अपमानजनक और विफल अनुभव में बदल गया।**

इस प्रकार कर्नाटक युद्धों ने फ्रांसीसी सामरिक और राजनीतिक आकांक्षाओं की सीमाओं को उजागर किया और ब्रिटिश प्रभुत्व की नींव तैयार की।

(b) 'सुरक्षा-वाल्व सिद्धांत' (Safety-Valve Theory) के अनुसार ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन ने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (INC) की स्थापना इस उद्देश्य से की कि यह शिक्षित भारतीयों की असंतोषपूर्ण भावनाओं का **शांतिपूर्ण निर्वहन माध्यम** बने। इसे एक तरह से ब्रिटिश शासन द्वारा जनदबाव को नियंत्रित करने और स्वतंत्रता आंदोलन की गति को सीमित करने का उपकरण माना गया। हालाँकि, आधुनिक शोधकर्ताओं ने इस सिद्धांत को पूरी तरह अस्वीकार किया है। उनके अनुसार INC का गठन **भारतीय नेताओं की स्वायत्त पहल और राजनीतिक चेतना का परिणाम** था। डॉ. बिपिन चंद्र और ए. आर. देसाई जैसे इतिहासकारों ने स्पष्ट किया कि नेताओं जैसे दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी आदि ने पहले से ही **राजनीतिक संगठनों और कार्यक्रमों** की रूपरेखा तैयार कर रखी थी। INC ने अपने उद्देश्यों, संगठनात्मक ढांचे और कार्यपद्धति को स्वतन्त्र रूप से विकसित किया।

यदि INC वास्तव में ब्रिटिश नियंत्रण का साधन होता, तो यह बाद में स्वतंत्रता संग्राम में अग्रणी दल नहीं बन पाता। इसके बजाय, INC ने धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के खिलाफ बड़े आंदोलन संचालित किए और राष्ट्रवादी चेतना को संगठित किया।

अतः, सुरक्षा-वाल्व सिद्धांत अब केवल **पुरानी व्याख्या** माना जाता है; वास्तविकता यह है कि INC का गठन **भारतीय नेताओं की सक्रिय पहल, संगठन और राजनीतिक जागरूकता** का परिणाम था, न कि ब्रिटिश द्वारा नियोजित नियंत्रण का साधन।

(c) महात्मा गाँधी का भारत आगमन 1915 में हुआ और 1917 से 1922 तक उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को नई दिशा और भारतीयकरण प्रदान किया। गाँधी ने आंदोलनों में सत्याग्रह, अहिंसा और असहयोग जैसे भारतीय मूल्य और परंपरागत विचारों को अपनाया।

उनके प्रारंभिक आंदोलनों में सबसे महत्वपूर्ण थे:

1. **चंपारण (1917) और कंधी (1918) सत्याग्रह** – ये स्थानीय किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए थे। गाँधी ने इन्हें ग्रामीण भारत की सामाजिक और आर्थिक वास्तविकताओं के आधार पर संगठित किया, जिससे आंदोलन जनता के जीवन से जुड़ा और आम लोगों का समर्थन मिला।
2. **असहयोग आंदोलन (1920-22)** – यह मोहनदास गाँधी द्वारा भारतीय युवाओं और समाज को अंग्रेजी शासन के खिलाफ सांस्कृतिक और नैतिक आंदोलन में शामिल करने का प्रयास था। उन्होंने स्वदेशी का प्रचार किया, भारतीय शिक्षा और उद्योग को समर्थन दिया।

इन आंदोलनों के माध्यम से गाँधी ने राष्ट्रीय आंदोलन को शहरी और उच्च-वर्ग तक सीमित रहने से निकालकर आम जनता, ग्रामीण भारत और सांस्कृतिक परंपराओं से जोड़ दिया। यह आंदोलन केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग तक सीमित न रहकर सामाजिक और नैतिक पुनरुत्थान का रूप लेने लगा।

अतः, 1917-1922 के प्रारंभिक आंदोलनों में गाँधी का योगदान स्पष्ट रूप से यह दर्शाता है कि उनका आगमन राष्ट्रीय आंदोलन का भारतीयकरण था।

Q.4.

(a) 19वीं सदी में भारत में ब्रिटिश उपनिवेश और पश्चिमी शिक्षा, विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का प्रसार हुआ। इसके परिणामस्वरूप समाज में आधुनिकीकरण की लहर आई, जिसने परंपरागत सांस्कृतिक और धार्मिक मान्यताओं के साथ टकराव उत्पन्न किया। इसी तनाव ने सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों को आकार दिया।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के तत्वों पर जोर देने वाले आंदोलन जैसे रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज और ब्रह्म समाज ने भारतीय धर्म और संस्कृति की मूल आत्मा को बनाए रखने का प्रयास किया। उन्होंने धर्म की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि को पुनर्जीवित किया, जबकि ब्राह्म समाज और आधुनिकतावादी सुधारक जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर, देवेंद्रनाथ ठाकुर ने शिक्षा, स्त्री सशक्तिकरण और सामाजिक समानता पर जोर दिया।

इस बीच, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और पश्चिमी आधुनिकता के बीच तनाव ने आंदोलन की रणनीति और प्राथमिकताएँ तय कीं। कुछ सुधारक पारंपरिक धार्मिक ढांचे को संरक्षित रखते हुए सुधार की कोशिश कर रहे थे, तो अन्य पश्चिमी विचारों और विज्ञान के माध्यम से समाज को अधिक आधुनिक और व्यावहारिक बनाना चाहते थे।

इस प्रकार, 19वीं सदी के सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलनों में सांस्कृतिक संरक्षण और आधुनिकता के बीच संतुलन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जो उनकी दिशा और उद्देश्य दोनों को प्रभावित करता रहा।

(b) 19वीं सदी में भारत में अनेक जनजातीय और कृषक विद्रोह हुए, जैसे सांसी विद्रोह, सन्नी, सन्थाल, मुण्डा, और चंपारण व तेलंगाना के किसान आंदोलन। ये विद्रोह प्रायः स्थानीय असंतोष और आर्थिक उत्पीड़न के कारण उभरे, जैसे ज़मींदारों, ठेकेदारों और ब्रिटिश कराधान प्रणाली के अत्याचार।

हालाँकि ये विद्रोह प्रारंभिक रूप से राजनीतिक संगठन या राष्ट्रीय चेतना के लिए नहीं थे, परन्तु उन्होंने सामूहिक असंतोष और प्रतिरोध की भावना को मजबूत किया। ग्रामीण और जनजातीय समुदायों में सांस्कृतिक और सामुदायिक पहचान के संरक्षण की भावना विकसित हुई, जिसने भारत में राजनीतिक जागरूकता और समानता की मांग को जन्म दिया।

ये विद्रोह ब्रिटिश शासन की कमजोरियों और अत्याचारों को उजागर करते हुए स्थानीय और क्षेत्रीय नेताओं को आंदोलन के संगठन और नेतृत्व का अनुभव प्रदान करते थे। धीरे-धीरे इन असंतोषों ने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए भूमि तैयार की, जहाँ शिक्षित मध्यमवर्ग और नेताओं ने किसानों और आदिवासियों की समस्या को राष्ट्रीय स्वतंत्रता और समानता के संदर्भ में जोड़ना शुरू किया।

अतः, 19वीं सदी के जनजातीय और कृषक विद्रोह प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक राष्ट्रवाद के वाहक नहीं थे, लेकिन उन्होंने सामूहिक चेतना, विरोध की संस्कृति और संगठनात्मक अनुभव देकर भारत में राष्ट्रवाद के उदय और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(c) स्वतंत्रता के पश्चात्, भारत सरकार ने जातिगत अन्याय और असमानता को समाप्त करने के लिए कई कानूनी, संवैधानिक और नीतिगत कदम उठाए।

1. संवैधानिक प्रावधान

- भारतीय संविधान ने जाति आधारित भेदभाव पर रोक लगाई (अनुच्छेद 15)।
- अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई (अनुच्छेद 16, 330, 332) ताकि शिक्षा, रोजगार और राजनीति में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो।

2. सामाजिक सुधार और कानून

- अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 और दलितों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए कई कानून बनाए गए।
- अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव पर प्रतिबंध लगाने के लिए सामाजिक चेतना अभियान चलाए गए।

3. आर्थिक और शैक्षणिक नीतियाँ

- पिछड़े वर्गों के लिए विशेष शिक्षा योजनाएँ, छात्रवृत्ति, प्रशिक्षण और स्वरोजगार कार्यक्रम लागू किए गए।
- सामाजिक न्याय मंत्रालय और आयोगों की स्थापना करके समावेशी विकास सुनिश्चित किया गया।

इन कदमों ने जातिगत अन्याय को पूरी तरह समाप्त नहीं किया, पर समान अवसर और सामाजिक न्याय की दिशा में ठोस आधार प्रदान किया। परिणामस्वरूप, भारतीय समाज में जातिगत असमानता कम करने और पिछड़े वर्गों का सशक्तिकरण सुनिश्चित करने की प्रक्रिया जारी है।

खण्ड- B / SECTION-B

Q.5.

(a) फ्रांसीसी क्रांति (1789-1799) का प्रारंभ राजशाही और सामाजिक असमानताओं के खिलाफ जनक्रांति के रूप में हुआ। प्रथम चरण में, जिसे अक्सर संवैधानिक मोनार्की और अभिजात वर्ग का युग कहा जाता है (1789-1792), क्रांति का लाभ मुख्यतः ऊपर के मध्य वर्ग और कुछ उदार अभिजात वर्ग को हुआ।

1789 में हुई असंबली और बास्तील का गिरना सामाजिक असमानताओं के विरोध का प्रतीक था। क्रांतिकारी घोषणाओं जैसे 'मानव और नागरिक के अधिकारों की घोषणा' ने अभिजात वर्ग को राजनीतिक और कानूनी सुधार में भागीदारी का अवसर दिया। इस दौरान राजा की सत्ता सीमित हुई, और अभिजात तथा संपन्न मध्य वर्ग ने प्रशासन, वित्त और विधायिका में प्रभाव जमाया।

हालाँकि, यह चरण निचले वर्ग और गरीब जनता की उम्मीदों को पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सका। ग्रामीण समस्याएँ, बेरोज़गारी और महंगाई बनी रही। इसीलिए फ्रांसीसी क्रांति का अगला चरण, जिसे जनता और गरीब वर्ग का क्रूर सत्ता संघर्ष कहा जाता है, अधिक हिंसक और व्यापक सामाजिक परिवर्तन का रूप ले गया।

इस प्रकार, प्रथम चरण में अभिजात वर्ग ने राजनीतिक विजय और कानूनी सुधार प्राप्त किए, पर क्रांति का पूर्ण सामाजिक लक्ष्य अभी अधूरा रहा।

(b) 1832 का सुधार अधिनियम (Reform Act 1832) ब्रिटिश संसदीय इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना माना जाता है। इस अधिनियम ने ब्रिटिश संसद के सदन निर्वाचन और प्रतिनिधित्व व्यवस्था में व्यापक बदलाव किए। इससे पहले, संसद में प्रतिनिधित्व असमान और पुराने अभिजात वर्ग के हितों पर आधारित था। कई छोटे और अप्रभावशाली नगरों (Rotten Boroughs) को अस्वीकार किया गया और बड़े उद्योगिक नगरों को प्रतिनिधित्व मिला।

अधिनियम ने मतदाताओं की योग्यता में परिवर्तन कर, सामान्य संपन्न वर्ग और मध्यम वर्ग को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल किया। हालाँकि यह पूर्ण लोकतांत्रिक नहीं था, परंतु यह ब्रिटिश इतिहास में पहली बार व्यापक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को संसद में प्रतिबिंबित करने का प्रयास था।

1832 के बाद, विधायी सुधारों की श्रृंखला शुरू हुई — जैसे 1867 और 1884 के सुधार अधिनियम — जिन्होंने धीरे-धीरे मतदाता वर्ग का विस्तार और संसदीय प्रतिनिधित्व में संतुलन स्थापित किया। इसलिए इसे ब्रिटिश इतिहास में विधायी पुनर्रचना की मिसाल कहा जाता है, क्योंकि इसने परंपरागत अभिजात सत्ता के केंद्रीकरण को चुनौती दी और आधुनिक लोकतांत्रिक प्रवृत्ति की नींव रखी।

(c) प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918) केवल राजनीतिक और भौगोलिक परिणामों तक सीमित नहीं रहा; इसने वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को भी गहराई से प्रभावित किया। राजनीतिक स्तर पर युद्ध ने यूरोप में साम्राज्यवाद और राजशाही की कमजोरियों को उजागर किया। कई साम्राज्य—जैसे ऑस्ट्रो-हंगेरियन और ओटोमन—टूट गए, और नए राष्ट्रों के उदय ने राष्ट्रवाद और जनतांत्रिक चेतना को बढ़ावा दिया।

सोचने के तरीकों पर प्रभाव स्पष्ट था। युद्ध ने मानव सभ्यता, नैतिकता और युद्ध की क्रूरता के प्रति गहरी निराशा और आलोचना को जन्म दिया। साहित्य, कला और दर्शन में पेस्टीमिज्म और निराशावाद का प्रचलन बढ़ा। सामाजिक विज्ञान और इतिहास लेखन में भी युद्ध ने कारणों और परिणामों का गहन विश्लेषण प्रेरित किया।

इसके अलावा, युद्ध ने उपनिवेशों में भी जागरूकता बढ़ाई। भारतीय जैसे उपनिवेशों में यह प्रश्न उठने लगे कि यदि यूरोप की जनता युद्ध में भाग ले सकती है, तो उनके अधिकार और स्वतंत्रता क्यों सीमित हैं। यही विचार आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलनों और राजनीतिक सक्रियता का आधार बने।

अतः प्रथम विश्वयुद्ध ने केवल राजनीतिक बदलाव नहीं लाए, बल्कि वैचारिक और सामाजिक दृष्टिकोणों को भी पुनः आकार दिया, जो 20वीं सदी के वैश्विक और उपनिवेशी आंदोलनों की नींव बना

(d) 20वीं सदी के प्रारंभ और मध्य में उपनिवेशों में साम्राज्य-विरोधी आंदोलन तेजी से फैल रहे थे। सोवियत संघ और चीन दोनों ही यह मानते थे कि उपनिवेशों में संघर्ष और राष्ट्रवादी आंदोलन अंततः समाजवादी खेमे में सामूहिक समर्थन का मार्ग खोलेंगे। उनके दृष्टिकोण के पीछे मार्क्सवादी सिद्धांत था, जिसके अनुसार पूँजीवाद और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष अंततः वर्ग-संघर्ष और साम्यवादी विचारों के पक्ष में परिणत होंगे।

सोवियत संघ ने स्वतंत्रता आंदोलनों को राजनीतिक और आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई। उन्होंने उपनिवेशों के नेताओं को सैन्य प्रशिक्षण, आर्थिक संसाधन और वैचारिक मार्गदर्शन प्रदान किया। इसी प्रकार चीन ने भी अपने समाजवादी आदर्शों के प्रसार के लिए एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी आंदोलनों को समर्थन दिया। चीनी क्रांति के अनुभव से प्रेरित होकर उन्होंने देखा कि आधिकारिक साम्यवाद और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की आकांक्षा कभी-कभी एक-दूसरे के पूरक बन सकते हैं।

हालांकि, वास्तविकता में उपनिवेशों में आंदोलनों के उद्देश्य हमेशा सोवियत या चीनी मॉडल से मेल नहीं खाते थे। अधिकांश आंदोलनों का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सामाजिक सुधार था, न कि सीधे समाजवाद अपनाना। फिर भी, उपनिवेशों में संघर्ष ने वैश्विक समाजवादी खेमे के लिए संभावित सहयोगियों और समर्थकों का आधार तैयार किया।

अतः, सोवियत संघ और चीन का दृष्टिकोण यह था कि साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन विश्व समाजवाद को बल देंगे, और उन्होंने उपनिवेशों में यह विश्वास अपने वैचारिक और रणनीतिक नीतियों का आधार बनाया।

(e) मार्क्स-पूर्व समाजवादी विचारक जैसे **सैंट-सिमोन, चार्ल्स फूरी और रॉबर्ट ओवेन** ने समाजवाद के विचार का प्रारंभ किया। उन्होंने समाज को **समानता, सहयोग और निजी संपत्ति की समाप्ति** के सिद्धांतों पर आधारित करने की कल्पना की। उनके विचारों में **नैतिक और आदर्शवादी दृष्टिकोण** प्रधान था, जो अधिकतर सामाजिक न्याय, श्रमिकों के अधिकार और सामूहिक संपत्ति की स्थापना पर केंद्रित थे।

हालाँकि, इन विचारकों ने इस बात पर **गहन व्यावहारिक विश्लेषण नहीं किया** कि ऐसे समाजों को वास्तविक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरचना में कैसे लागू किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, ओवेन ने केवल छोटे औद्योगिक समुदायों में प्रयोग किए, लेकिन व्यापक समाज में उनका मॉडल सफल नहीं हो सका। फूरी और सैंट-सिमोन ने केवल **आदर्शवादी योजनाएँ और नैतिक दृष्टिकोण** प्रस्तुत किए, बिना यह सोचे कि राज्य, कानून और बाजार जैसे तंत्र किस प्रकार काम करेंगे।

मार्क्स ने इन्हीं सीमाओं का अवलोकन करते हुए समाजवाद के सिद्धांत को **ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण** में विकसित किया। उन्होंने सामाजिक संघर्ष, उत्पादन के साधन और वर्ग संघर्ष को ध्यान में रखते हुए व्यावहारिक रूपरेखा प्रस्तुत की।

इस प्रकार, मार्क्स-पूर्व समाजवाद **आदर्श और नैतिक दृष्टिकोण तक सीमित था**, जबकि इसके कार्यान्वयन और संरचना पर गहन विचार नहीं किया गया। उनकी सोच ने समाजवादी विचारों की नींव रखी, लेकिन **व्यावहारिक क्रियान्वयन की दिशा** मार्क्स और बाद के समाजवादियों ने निर्धारित की।

Q .6.

(a) 19वीं सदी में **राष्ट्रवाद** यूरोप और विश्व के कई हिस्सों में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों का केंद्र बन गया। यह विचारधारा **एकता और स्वतंत्रता की प्रेरक शक्ति** भी थी और **विभाजन और विघटन** का कारण भी।

एकीकरण के उदाहरण:

- **इटली:** माज़िनी, गरिबाल्डी और कावूर जैसे नेताओं ने इटली को छोटे राज्यों और साम्राज्यों से मुक्त कर एक राष्ट्र में संगठित किया। राष्ट्रवाद ने लोगों में साझा भाषा, संस्कृति और पहचान की भावना पैदा की।
- **जर्मनी:** प्रुशिया के नेतृत्व में बिस्मार्क ने राष्ट्रवाद का प्रयोग करके विभिन्न जर्मन राज्यों को एकीकृत कर आधुनिक जर्मन साम्राज्य की स्थापना की।

विघटन के उदाहरण:

- **ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य:** राष्ट्रवादी आंदोलनों, जैसे हंगरी और चेक की स्वतंत्रता की मांग ने साम्राज्य को आंतरिक दबाव में डाल दिया।
- **ओटोमन साम्राज्य:** बाल्कन क्षेत्रों में ग्रीक, सर्ब और बुल्गारियाई राष्ट्रवाद ने साम्राज्य के विघटन में योगदान दिया।
- **भारत और एशिया:** उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों ने साम्राज्यवादी नियंत्रण को चुनौती दी, जिससे ब्रिटिश साम्राज्य और अन्य उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ।

इस प्रकार, 19वीं सदी में राष्ट्रवाद सामूहिक पहचान और राजनीतिक चेतना का स्रोत बनकर एकीकरण की दिशा में प्रेरित भी करता था और बहुसांस्कृतिक साम्राज्यों और उपनिवेशों में विभाजन को भी तेज करता था।

राष्ट्रवाद की यह द्विध्रुवीय भूमिका 19वीं सदी की वैश्विक राजनीति और समाज के रूपांतरण में निर्णायक रही।

(b) अमेरिकी क्रांति (1775–1783) केवल ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध विद्रोह नहीं थी, बल्कि यह प्रबोधन (Enlightenment) के विचारों का व्यावहारिक रूपांतरण थी। प्रबोधन के सिद्धांत—जैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्राकृतिक अधिकार, सामाजिक अनुबंध और तर्कसंगत प्रशासन—अमेरिकी क्रांति के राजनीतिक, नागरिक और धार्मिक आयामों में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में: क्रांति ने ब्रिटिश राजा और संसद के निरंकुश अधिकारों को चुनौती दी। थॉमस पेन के विचार और 'Common Sense' जैसी रचनाएँ स्वतंत्रता, लोकतंत्र और प्रतिनिधि शासन के लिए प्रेरित करती थीं। संविधान और संविधान सभा के दस्तावेज में प्रबोधन के सिद्धांतों के अनुरूप अधिकारों और शक्तियों का संतुलन दिखता है।

नागरिक क्षेत्र में: क्रांति ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय को महत्व दिया। लोगों को कानून के समक्ष समानता, संपत्ति और भाषण की स्वतंत्रता जैसी अधिकारों की प्राप्ति हुई। समाज में नागरिक जागरूकता और सार्वजनिक सहभागिता बढ़ी।

धार्मिक क्षेत्र में: प्रबोधन ने धार्मिक तर्क और व्यक्तिगत विश्वास के अधिकार को बढ़ावा दिया। क्रांति के पश्चात् धार्मिक स्वतंत्रता और चर्च-राज्य पृथक्करण की नीति अपनाई गई, जिससे व्यक्तियों को अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार जीवन जीने की स्वतंत्रता मिली।

इस प्रकार, अमेरिकी क्रांति राजनीतिक, नागरिक और धार्मिक सुधार का समग्र प्रबोधनात्मक प्रदर्शन थी, जिसने आधुनिक लोकतांत्रिक और नागरिक समाज की नींव रखी।

(c) नव-साम्राज्यवाद (Late 19th – early 20th century) को अक्सर "Imperialism" के रूप में देखा जाता है, जब यूरोपीय शक्तियों ने एशिया और अफ्रीका में अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। इसे कुछ विद्वानों ने पुराने औपनिवेशिक तरीकों की निरंतरता के रूप में देखा है क्योंकि इसमें भूमि, संसाधन और बाजार पर नियंत्रण बनाए रखना प्राथमिक लक्ष्य था, ठीक जैसे पुराने औपनिवेशिक काल में था। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी और बेल्जियम के कांगो उपनिवेश के तरीके—शक्ति और आर्थिक दोहन—में समानताएँ थीं।

हालाँकि, नव-साम्राज्यवाद वैश्विक शक्ति संरचना में मौलिक परिवर्तन का संकेत भी देता है। यह अब केवल क्षेत्रीय कब्जे तक सीमित नहीं था, बल्कि औद्योगिक प्रतिस्पर्धा, वित्तीय नियंत्रण और वैश्विक बाजार पर प्रभुत्व मुख्य उद्देश्य बन गए। नई तकनीक और सेना के आधुनिककरण ने उपनिवेशों में गहन नियंत्रण की अनुमति दी। नव-साम्राज्यवाद में राष्ट्रीयता और औद्योगिक शक्ति की भूमिका बढ़ी, जो पुराने साम्राज्यवादी विस्तार से भिन्न थी।

निष्कर्षतः, नव-साम्राज्यवाद पुराने औपनिवेशिक तरीकों की निरंतरता और वैश्विक शक्ति संरचना में बदलाव दोनों का मिश्रण था। यह आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य दृष्टि से पुराने औपनिवेशिक लक्ष्यों को आगे बढ़ाता था, परंतु वैश्विक परिदृश्य में राष्ट्रवादी और औद्योगिक शक्तियों के उदय ने इसे एक नई, व्यापक और संगठित प्रणाली में परिवर्तित कर दिया।

Q.7.

(a) 1929 के विश्व आर्थिक मंदी ने वाइमार रिपब्लिक को गंभीर संकट में डाल दिया। बेरोज़गारी, बैंकिंग संकट और कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में गिरावट ने जर्मनी के शासक वर्गों—जैसे उद्योगपति, ज़मींदार और सेना के वरिष्ठ अधिकारी—को आशंकित कर दिया। वे इस तथ्य को समझने लगे कि लोकतांत्रिक प्रणाली इस संकट से शीघ्र नहीं उबर सकती और राजनीतिक अस्थिरता देश को साम्यवाद और बुनियादी सामाजिक विद्रोह की ओर ले जा सकती है।

इस परिप्रेक्ष्य में, वे सर्वसत्तावादी शासन—विशेषकर नाज़ी पार्टी के नेतृत्व में हिटलर—को शक्ति सौंपने के पक्ष में हो गए। नाज़ी पार्टी ने आर्थिक सुधार, बेरोज़गारी घटाने और राष्ट्रवादी भावनाओं को जोर देकर शासक वर्ग की आशंकाओं को शांत किया।

इसके अलावा, शासक वर्ग को यह भी विश्वास था कि एक केंद्रीकृत और कठोर शासन व्यवस्था सामाजिक विरोध को नियंत्रित कर सकेगी और विदेशी तथा घरेलू आर्थिक दबावों का सामना कर सकेगी। हिटलर के लिए सत्ता का मार्ग इसी वर्गीय समर्थन से खुला।

अतः 1932 के चुनावों तक जर्मनी के शासक वर्गों ने यह निष्कर्ष निकाला कि लोकतांत्रिक व्यवस्था आर्थिक संकट और राजनीतिक अस्थिरता से निपटने में असफल साबित हो रही है, और इसका समाधान केवल सर्वसत्तावादी शासन को सत्ता सौंपने में निहित था। यह निर्णय वाइमार गणराज्य की गिरावट और नाज़ी तानाशाही के उदय का प्रमुख कारण बना।

(b) मिखाइल गोर्बाचेव (1985–1991) ने सोवियत संघ में सत्ता संभालने के बाद दो प्रमुख घरेलू सुधारों—ग्लासनोस्त (Parliamentary Openness) और पेरेस्ट्रोइका (Economic Restructuring)—को लागू किया।

पेरेस्ट्रोइका का उद्देश्य आर्थिक प्रणाली को अधिक लचीला और उत्पादन-केंद्रित बनाना था। इसमें राज्य नियंत्रण को कम कर आंशिक बाज़ार अर्थव्यवस्था, विदेशी निवेश और उद्यमों की स्वायत्तता बढ़ाने पर जोर दिया गया। इसका उद्देश्य केंद्रित योजनाओं की अक्षमता को दूर करना था।

ग्लासनोस्त का लक्ष्य राजनीतिक और सामाजिक खुलापन बढ़ाना था। प्रेस, अभिव्यक्ति और सामूहिक चर्चा की स्वतंत्रता को बढ़ावा देकर सरकार ने भ्रष्टाचार और बड़बड़ापन उजागर करने की कोशिश की।

आलोचनात्मक दृष्टि से, ये सुधार मिश्रित परिणाम लाए। पेरेस्ट्रोइका ने आर्थिक संकट को पूरी तरह समाप्त नहीं किया; उत्पादन में सुधार धीमा और असमान रहा। ग्लासनोस्त ने सूचना और आलोचना की स्वतंत्रता बढ़ाई, लेकिन साथ ही राष्ट्रीयतावादी और विद्रोही आंदोलनों को भी बल दिया, जिससे संघ के भीतर अस्थिरता बढ़ी।

अंततः, गोर्बाचेव के सुधारों ने संघ के विघटन की प्रक्रिया को तेज किया। उनके दृष्टिकोण ने सुधारों का उद्देश्य—साम्यवादी व्यवस्था को आधुनिक बनाने—को पूर्णतः सफल नहीं किया, लेकिन उन्होंने राजनीतिक पारदर्शिता, सामाजिक चेतना और वैश्विक समरसता की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार, गोर्बाचेव के सुधार सुदूर परिणामों और अनपेक्षित चुनौतियों के साथ एक साहसिक, लेकिन असफल प्रयोग साबित हुए।

(c) प्रबोधन या **Enlightenment** (17वीं–18वीं शताब्दी) ने यूरोप में धार्मिक, राजनीतिक और बौद्धिक चेतना को गहरा प्रभावित किया। इसके विचारक पादरी-प्रथा (Clerical Authority) और अंधविश्वास के विरोध में थे। उन्होंने तर्कसंगत विचार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्व दिया। इस विरोध में पुनर्जागरण (Renaissance) और सुधारवाद (Reformation) की ध्वनियाँ स्पष्ट रूप से महसूस होती हैं।

पुनर्जागरण ने मानव-केंद्रित दृष्टिकोण अपनाया और मध्ययुगीन चर्च की कठोरता के विरुद्ध मुक्त विचार को बढ़ावा दिया। सुधारवाद ने धार्मिक संरचना में सुधार और भ्रष्टाचार के विरोध की दिशा में आंदोलन किया। प्रबोधन इन दोनों परंपराओं से प्रभावित था, क्योंकि यह पादरी सत्ता और अंधविश्वास के विरोध में समान दृष्टिकोण रखता था।

हालाँकि, प्रबोधन ने न तो पुनर्जागरण की विधर्मवादी या पैगन दृष्टि को अपनाया, न ही सुधारवाद के धार्मिक विश्वास और मोक्ष के विचार को पूर्णतः स्वीकार किया। इसका कारण था कि प्रबोधन तर्क, अनुभव और मानव-बुद्धि पर आधारित था, जबकि पुनर्जागरण और सुधारवाद धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं से जुड़े थे। प्रबोधन ने धर्म और विश्वास के क्षेत्र में अधिक स्वतंत्र और आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया।

इस प्रकार, प्रबोधन ने पुनर्जागरण और सुधारवाद के प्रेरक तत्वों—धार्मिक सुधार, पादरी विरोध और मानव-केंद्रित दृष्टि—को आत्मसात किया, लेकिन उनके सीमित धार्मिक या पारंपरिक विश्वासों को चुनौती दी। यह आंदोलन धार्मिक आलोचना और वैज्ञानिक चेतना के समन्वय का प्रतीक बन गया, जिसने आधुनिक यूरोपीय समाज की नींव रखी।

Q.8.

(a) वियतनाम और हिन्द-चीन (जैसे भारत और पड़ोसी एशियाई क्षेत्र) में उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों का स्वरूप भिन्न था। वियतनाम में हो ची मिन्ह और उनके नेतृत्व वाली वियतनामी कम्युनिस्ट पार्टी ने निर्णायक और संगठित रणनीति अपनाई। इसके विपरीत, गैर-साम्यवादी नेता—विशेषकर हिन्द-चीन क्षेत्र में—ने अपनी स्वतंत्रता आंदोलनों में सफलता पाने में संघर्षरत रहे।

इसके कई कारण थे। पहला, संगठन और अनुशासन की कमी। गैर-साम्यवादी नेताओं के दल अक्सर क्षेत्रीय, जातिगत और भाषाई सीमाओं में बंटे थे। इससे राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक कार्रवाई करना कठिन हुआ।

दूसरा, **सैन्य और रणनीतिक दृष्टि की सीमाएँ**। वियतनामी कम्युनिस्टों ने guerilla युद्ध और व्यापक जनसमर्थन को रणनीतिक रूप से अपनाया, जबकि गैर-साम्यवादी नेता उपनिवेशवादी सेनाओं के मुकाबले अपेक्षाकृत असंगठित और पारंपरिक युद्ध तकनीकों पर निर्भर रहे।

तीसरा, **वैचारिक स्पष्टता और जन समर्थन की कमी**। हो ची मिन्ह ने आर्थिक समानता, भूमि सुधार और सामाजिक न्याय के माध्यम से जनता का समर्थन जुटाया। हिन्द-चीन के गैर-साम्यवादी नेताओं के कार्यक्रम अक्सर सीमित वर्गों तक सीमित रहे, जिससे व्यापक जन समर्थन नहीं मिल सका।

अंततः, गैर-साम्यवादी नेता उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष को सफल नेतृत्व प्रदान करने में असफल रहे क्योंकि वे **सामूहिक रणनीति, संगठन, जन समर्थन और वैचारिक स्पष्टता में सक्षम नहीं थे**, जबकि साम्यवादी नेतृत्व ने इन सभी तत्वों का समन्वय किया।

(b) यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community – EEC) की स्थापना 1957 में **रोम संधि** के माध्यम से हुई। इसका मूल उद्देश्य था यूरोपीय देशों के बीच **मुक्त व्यापार और आर्थिक सहयोग** को बढ़ावा देना। यह अवधारणा यूरोप में **द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आर्थिक पुनर्निर्माण, राजनीतिक स्थिरता और सामूहिक सुरक्षा** के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण थी।

मुक्त व्यापार का योगदान कई आयामों में स्पष्ट है। पहला, यह **आर्थिक एकीकरण की नींव** था। कच्चे माल, वस्तुओं, सेवाओं और श्रम के मुक्त प्रवाह ने देशों के बीच परस्पर निर्भरता बढ़ाई और व्यापारिक बाधाओं को समाप्त किया। दूसरा, यह **आर्थिक विकास और प्रतिस्पर्धा** को प्रोत्साहित करता था, जिससे सदस्य राज्यों में उत्पादन, नवाचार और निवेश में वृद्धि हुई।

तीसरा, मुक्त व्यापार ने **राजनीतिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त** किया। आर्थिक हितों के समन्वय ने यूरोप में राजनीतिक स्थिरता और सामूहिक निर्णय-प्रक्रियाओं को मजबूती दी। यह धीरे-धीरे **EEC को यूरोपीय संघ (European Union – EU) में बदलने की दिशा में प्रेरित** हुआ, जिसमें केवल आर्थिक नहीं बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और मुद्रा एकीकरण भी शामिल था।

निष्कर्षतः, यूरोपीय आर्थिक समुदाय का मुक्त व्यापार सिद्धांत **यूरोपीय संघ के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाने वाला आधार** था। यह केवल आर्थिक सहयोग तक सीमित नहीं रहा, बल्कि व्यापक राजनीतिक और सामाजिक एकीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाला महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ।

(c) 20वीं सदी की शुरुआत में जर्मनी ने **वैज्ञानिक शिक्षा और औद्योगिक विकास** के बीच एक अनूठा समन्वय स्थापित किया। जर्मनी में **तकनीकी विश्वविद्यालय (Technische Hochschulen)** और **अनुसंधान संस्थान** उन्नत वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने लगे, जिसने उद्योगों में **वैज्ञानिक नवाचार और उत्पादन दक्षता** को बढ़ावा दिया।

वैज्ञानिक शिक्षा ने औद्योगिक विस्तार को चार प्रमुख तरीकों से प्रभावित किया। पहला, **उद्योगों में तकनीकी नवाचार**। रसायन, मशीन निर्माण और इलेक्ट्रॉनिक्स जैसे क्षेत्रों में नई खोजों ने जर्मन उद्योग को वैश्विक प्रतिस्पर्धा में अग्रणी बनाया। दूसरा, **कुशल श्रमिक और इंजीनियरों का उदय**, जिसने उत्पादन प्रक्रिया को अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित बनाया।

तीसरा, अर्थव्यवस्था और समाज में संरचनात्मक परिवर्तन। औद्योगिक विस्तार ने शहरीकरण, श्रमिक वर्ग का विकास और सामाजिक गतिशीलता बढ़ाई। चौथा, राष्ट्रीय शक्ति और राजनीतिक महत्व। वैज्ञानिक शिक्षा और औद्योगिक शक्ति ने जर्मनी को यूरोप में वैश्विक शक्ति बनने में मदद दी।

हालांकि, इसके साथ ही सामाजिक असमानताएँ और श्रमिकों की शोषण संबंधी समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। औद्योगिक विकास ने आर्थिक प्रगति लाई, परन्तु सामाजिक संतुलन बनाए रखना चुनौतीपूर्ण रहा।

निष्कर्षतः, 20वीं सदी के प्रारंभ में जर्मन समाज में वैज्ञानिक शिक्षा और औद्योगिक विस्तार का अंतरनिर्भर संबंध न केवल आर्थिक और तकनीकी विकास का आधार बना, बल्कि यह सामाजिक और राजनीतिक संरचना पर भी गहरा प्रभाव डालने वाला तत्व साबित हुआ।

PLUTUS IAS